RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2024

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2024

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

धर्मशास्त्रों के शूद्रों की सामाजिक स्थिति विश्लेषण

रतनलाल कुमावत
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में शूद्रों की सामाजिक स्थिति मूलत: गुण, जन्म, आयु और धर्मकर्मों के अधिकार पर आधारित है, किन्तु यह व्यवस्था हर वर्ण के लिए समान नहीं रहती। इसी असमानता के कारण शूद्र का सम्मान, अधिकार और सामाजिक मूल्यांकन द्विज वर्णों की तुलना में अत्यन्त सीमित और जन्म-निर्भर रूप में निर्धारित होता हुआ दिखाई देता है। इस समग्र विषय को विस्तार से समझने के लिए पहले यह देखना आवश्यक है कि धर्मशास्त्रकार सम्मान के आधार किन तत्वों को मानते थे और इन तत्वों के उपयोग का दायरा शूद्रों के संदर्भ में कैसे परिवर्तित हो जाता है।

गौतम ने समाज में सम्मान के छह मूल कारण बताए—धन, बन्धु-बान्धव, कर्म, जाति, ज्ञान और आयु। उनका मत अत्यन्त रोचक है, क्योंकि वे इन छह गुणों को क्रम से इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं कि यदि किसी स्थिति में दो व्यक्तियों के गुणों में टकराव या तुलना हो, तो निर्णय इस आधार पर किया जाएगा कि क्रम में बाद वाला गुण पहले वाले की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति धनवान है पर दूसरा व्यक्ति कर्म-प्रधान है, तो कर्म को धन पर वरीयता दी जाएगी, और यदि किसी में ज्ञान है और दूसरे में मात्र कर्म है, तो ज्ञान को श्रेष्ठ माना जाएगा। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि गौतम गुणों की श्रेष्ठता को जन्मना आधार से ऊपर रखते हैं। हरदत्त ने गौतम के इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए बताया कि सम्मान का उद्देश्य वस्तुओं का नहीं, बल्कि उन गुणों से युक्त व्यक्तियों का सम्मान करना है, क्योंकि सम्मान सदैव व्यक्ति की विशेषताओं—जैसे विद्या, आयु या कर्म—से संबद्ध होता है।

मनु और विष्णु ने गौतम की इस व्यवस्था में संशोधन करते हुए जाति को अलग कर दिया और धन, सम्बन्धी, आयु, कर्म और विद्या—इन पाँच को सम्मान का आधार माना। यद्यपि इन दोनों ने विद्या और आयु को सर्वोपरि मानते हुए क्रम निर्धारित किया, किन्तु इस क्रम की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसे सभी वर्णों पर समान रूप से लागू नहीं किया गया। त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए सम्मान के सभी आधार मान्य रखे गए, परन्तु शूद्र के लिए इनमें से अधिकांश तत्व अमान्य कर दिए गए। इसका कारण यह बताया गया कि शूद्र को वेदाध्ययन या वेदकर्म का अधिकार नहीं है, इसलिए न तो वह कर्म के बल पर सम्मान पा सकता है और न ही विद्या के आधार पर। इसी प्रकार धन और बन्धु-बान्धव भी उसके सम्मान का कारण नहीं माने गए, क्योंकि मनु के 'दशमीम्' शब्द के आधार पर मेधातिथि यह बताते हैं कि यह सब अधिकार केवल त्रैवर्णिकों के लिए हैं। फलत: शूद्र के लिए सम्मान का एकमात्र और अंतिम आधार उसकी आयु ही रह जाता है। मनु ने इसे 60 वर्ष बताया, जबकि मिताक्षरा ने गौतम के 'वार्धके मानमर्हति' सूत्र का

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

अनुसरण करते हुए 80 वर्ष की आयु को मान्य माना।

धर्मशास्त्रों की यह स्थिति और स्पष्ट होती है जब विष्णु धर्मसूत्र, वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य की उक्तियाँ सामने आती हैं। विष्णु स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ब्राह्मण का सम्मान सात्त्विक स्थिरता से, क्षत्रिय का उसकी शक्ति से, वैश्य का धन-संपत्ति से और शूद्र का केवल जन्म से निर्धारित होता है। इस कथन में शूद्र के लिए केवल जन्मना स्थिति को सम्मान का आधार कहना यह दर्शाता है कि गुणों की मूल्यांकन प्रणाली उसके लिए लगभग निष्क्रिय कर दी गई थी। याज्ञवल्क्य और उशनस् ने भी विद्या, कर्म, आयु, बन्धु और वित्त को सम्मान का आधार बताया, किन्तु शूद्र के लिए इन्हें तभी मान्य माना जब वह अस्सी वर्ष से अधिक आयु का हो। यहाँ भी गुण जन्मना जाति की दीवार से टकराकर अप्रभावी हो जाते हैं।

अपरार्क एक अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे गौतम का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यदि किसी हीन जाति का व्यक्ति गुणों और विद्या से सम्पन्न है, तो वह ऊँची जाति वाले व्यक्ति से अधिक मान्य हो सकता है। यह विचार धर्मशास्त्रीय परम्परा में एक उदात्त और गुणप्रधान दृष्टिकोण को स्थापित करता है, किन्तु व्यावहारिक प्रभाव के स्तर पर इसका शूद्रों की स्थिति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि अधिकांश स्मृतियाँ और धर्मसूत्र जन्मना जाति को ही अंतिम आधार मानने पर अधिक बल देती रहीं।

पाराशर का दृष्टिकोण इस पूरी परम्परा में सर्वाधिक कठोर और जाति-प्रधान है। वे कहते हैं कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में आकंठ डूबा हुआ, दुराचारी ब्राह्मण भी पूज्य है, परन्तु जितेन्द्रिय, सदाचारी और कर्तव्यनिष्ठ शूद्र पूज्य नहीं। इसे वे गाय और गदही के उदाहरण से समझाते हैं—लात मारने वाली गाय को भी दुहा जाता है, परन्तु सीधी-सादी गदही को नहीं। यहाँ उनका स्पष्ट संकेत है कि जाति गुणों से ऊपर है और गुण केवल उतने ही महत्व रखते हैं जितना उनकी सीमा ब्राह्मण आदि वर्णों तक है। पराशरमाधव में उद्धृत चतुर्विंशतिमत की स्मृति इस दृष्टिकोण को और भी कठोर रूप में प्रस्तुत करती है। इसमें कहा है कि शूद्र के मुख से निकलने वाला उपदेश उतना ही अपेय है जितना कुत्ते के मुँह में रखा दूध। यदि शूद्र विद्या के अहंकार में ब्राह्मण को उपदेश देता है, तो वह घोर नरक को प्राप्त होता है। ऐसी स्मृतियाँ स्पष्ट रूप से यह दर्शाती हैं कि शूद्र का ज्ञान भी तब तक स्वीकार्य नहीं जब तक वह मौन और आज्ञाकारी स्थिति में ही रहे।

सम्मान-विधि

धर्मशास्त्रीय परंपरा में सम्मान-विधि का विधान अत्यंत सूक्ष्म, क्रमबद्ध और जाति-आधारित है। इस पूरे विधान का उद्देश्य यह निर्धारित करना है कि कौन किसका सम्मान करेगा, किस प्रकार करेगा, और किन परिस्थितियों में करेगा। विशेष रूप से शूद्र के सम्मान के विषय में यह व्यवस्था अत्यंत सीमित, किंतु स्पष्ट रूप से विनिर्दिष्ट है।

गौतम का मत यह है कि यदि कोई शूद्र अस्सी वर्ष की आयु तक पहुँच जाता है, तो उसका सम्मान ज्येष्ठता के कारण किया जाना चाहिए। किंतु यह सम्मान सामान्य अभिवादन द्वारा नहीं, बल्कि खड़े होकर किया जाना चाहिए। यह आदर का एक ऐसा रूप था जिसमें शारीरिक सम्मान दिया जाता था, परन्तु वाणी द्वारा अभिवादन का अधिकार नहीं माना गया। गौतम इसे 'सकेद'—अर्थात् उठकर सम्मान—के रूप में परिभाषित करते हैं। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि यदि एक अत्यन्त वृद्ध शूद्र के सामने आयु में बहुत छोटा

ब्राह्मण उपस्थित हो, तो वह छोटा ब्राह्मण भी शूद्र के प्रति खड़ा होकर सम्मान प्रकट करेगा, किंतु उसे प्रणाम नहीं करेगा।

हरदत्त इस सूत्र की व्याख्या में बताते हैं कि 'शूद्र' शब्द यहाँ केवल एक जाति के रूप में नहीं, बल्कि निम्न वर्ण के संकेत के रूप में प्रयुक्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि गौतम का विधान केवल शूद्र तक सीमित नहीं है—बल्कि प्रत्येक वर्ण को अपने से नीच वर्ण के वृद्ध व्यक्ति के प्रति खड़े होकर सम्मान करना चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मण को वृद्ध क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी का उठकर सत्कार करना चाहिए। इसी प्रकार क्षत्रिय को वृद्ध वैश्य और शूद्र का, तथा वैश्य को वृद्ध शूद्र का। किन्तु अभिवादन या नमस्कार करना—जो उच्च सम्मान का चिह्न माना जाता है—इन संबंधों में निषिद्ध है।

हरदत्त इसी नियम को उलटकर भी लागू करते हैं। उनके मत से यदि किसी शूद्र को आयु में कम त्रैवर्णिकों का सम्मान प्रकट करना हो, तो उसे भी खड़े होकर ही करना चाहिए, न कि नमस्कार करके। अर्थात् सम्मान की क्रिया निम्न वर्ण के लिए भी खड़े होने तक ही सीमित है; अभिवादन करने का विशेष अधिकार केवल उच्च वर्णों के प्रति और उचित अवसरों पर ही मान्य है।

निम्न वर्ण के व्यक्ति द्वारा उच्च वर्ण के नाम का भी स्वतंत्र रूप से उच्चारण न करना—यह भी इसी परंपरा का एक प्राचीन नियम माना गया है। इस नियम का प्रयोजन यह था कि उच्च वर्ण की गरिमा को वाणी में भी एक विशेष दूरी या औपचारिकता के माध्यम से व्यक्त किया जाए।

कल्पतरुकार ने इस परंपरा की व्याख्या करते हुए एक सूक्ष्म स्थिति का समाधान दिया है। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण का पिता का मित्र है या स्वयं उसके मित्र का पिता है, तो संबंध की दृष्टि से वह श्रेयस्कर माना जाएगा। ऐसी स्थिति में पुत्रतुल्य युवा ब्राह्मण को उस वृद्ध शूद्र का खड़े होकर सम्मान करना चाहिए, परन्तु उसे प्रणाम या अभिवादन की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ स्पष्ट है कि आयु और सामाजिक संबंध का महत्त्व जातीय अंतर को कुछ सीमाओं तक शिथिल कर देता है, किंतु समग्र सम्मान व्यवस्था में अभिवादन का अधिकार फिर भी जातिगत मर्यादाओं से बँधा रहता है।

इस प्रकार सम्मान-विधि का यह विधान बताता है कि प्राचीन धर्मशास्त्रीय व्यवस्था में आयु को तो एक सम्माननीय तत्व माना गया, किन्तु सम्मान की अभिव्यक्ति और उसकी प्रकृति पूरी तरह वर्ण-क्रम पर आधारित रही। शूद्र को वृद्धावस्था में स्थान अवश्य मिला, परन्तु वह स्थान भी सीमित रूप में और केवल शारीरिक सत्कार तक ही सीमित था, जबकि अभिवादन, वाणी-सम्मान और नाम-लेखन जैसे उच्च सामाजिक संकेत उसके लिए निषिद्ध रखे गए। यह पूरी परंपरा उस सामाजिक संरचना का प्रतिबिंब है जिसमें सम्मान अधिकार से अधिक जन्म और क्रम पर आधारित था।

आजीविका के साधन :

धर्मशास्त्रों में शूद्र की आजीविका से सम्बन्धित नियम विभिन्न ग्रन्थों में बिखरे हुए मिलते हैं। इन सभी को समग्र रूप से देखने पर स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने शूद्र की आजीविका को तीन स्तरों में स्थापित किया है—पहला, द्विजातियों की सेवा द्वारा आजीविका; दूसरा, ऐसी परिस्थितियाँ जब मात्र सेवा से जीवन-निर्वाह सम्भव न हो पाए; और तीसरा, सेवा से पृथक् स्वतन्त्र रूप से आजीविका प्राप्त करने की सीमित व्यवस्था।

सबसे पहले यह कहा गया है कि शूद्र की मूल वृत्ति द्विजातियों की सेवा-शुश्रूषा मानी गई है। गौतम धर्मसूत्र में यह नियम अत्यन्त स्पष्ट है कि शूद्र अपनी आजीविका 'द्विजों से ही माँगे', जिसका अर्थ यह है कि उसकी आजीविका द्विजों की सेवा पर आधारित है। सेवा एक कर्तव्य के रूप में निर्धारित है, और सेवा पूर्ण करने के बाद उसे यह अधिकार मिलता है कि वह जीवन-निर्वाह के लिए द्विज से आहार या सुविधाएँ प्राप्त करे। यही कारण है कि गौतम को यह भी कहना पड़ा कि यदि कोई शूद्र सेवा करते-करते वृद्ध हो जाए या दुर्बल होकर कार्य करने में असमर्थ हो जाए, तो उसका भरण-पोषण भी उसके द्विज-स्वामी का ही कर्तव्य है।

मनु ने भी इसी सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए कहा है कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह अपनी सामर्थ्य, शूद्र के कार्य-उत्साह और उसके परिवार की आवश्यकता को देखकर उसके लिए घर से आजीविका की व्यवस्था करे। इसका तात्पर्य यह है कि शूद्र जब तक सक्षम है, सेवा करता है; और जब असमर्थ हो जाता है, तब भी उसकी और उसके परिवार की देखभाल उसी स्वामी द्वारा की जानी चाहिए जिसके संरक्षण में वह कार्य करता था।

हारीत का मत इससे भी अधिक स्पष्ट है—उनके अनुसार शूद्र की अपनी कोई पृथक् वृत्ति नहीं होती; त्रैवर्णिकों की सेवा ही उसकी वृत्ति कही जाती है। कुछ आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि दान देना ही उसका धर्म है और सेवा ही उसका प्रधान जीवन-आधार।

वासिष्ठ-धर्मसूत्र में भी यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि द्विजातियों की परिचर्या ही शूद्र की निश्चित आजीविका है। इन सभी स्रोतों से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन हिन्दू समाज में शूद्र का धनार्जन मूलत: सेवा-परक और आश्रित प्रकृति का माना गया।

यद्यपि धर्मशास्त्रकारों ने सेवा को ही शूद्र की आधारभूत जीविका माना, फिर भी उन्होंने ऐसी स्थिति के लिए विशेष व्यवस्था भी की है जब केवल सेवा से उसका परिवार जीवित न रह सके। यदि सेवा करने पर भी शूद्र अपने तथा अपने परिवार का पोषण करने में असमर्थ हो जाए, और उसकी पत्नी एवं संतान भूख से कष्ट पाने लगें, तो ऐसी अवस्था में धर्मशास्त्रकार उसे अन्य कार्य, जैसे—सूपकार्य या अन्य हस्तकला-संबंधी कार्य—करने की अनुमति देते हैं। यह व्यवस्था यथार्थपरक भी है और सामाजिक उदारता का प्रमाण भी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि शूद्र की स्थिति सदैव कठोर सीमाओं में बँधी होने पर भी, उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक लचीलापन धर्मशास्त्रों में मौजूद था।

धर्मशास्त्रकारों का यह दृष्टिकोण दर्शाता है कि समाज में शूद्र का स्थान चाहे सेवा-प्रधान क्यों न रहा हो, परन्तु उसके परिवार की सुरक्षा और आजीविका के लिए वैकल्पिक मार्ग भी स्वीकार्य समझे गए। यह व्यवस्था इस बात का सूचक है कि शूद्र की आर्थिक स्थिति को देखते हुए उसके हितों की रक्षा के लिए भी धर्मशास्त्रों में स्थान दिया गया था।

द्विजातियों की सेवा से पृथक् स्वतन्त्र आजीविका :

धर्मशास्त्रों में जहाँ शूद्र की मूल आजीविका द्विजातियों की सेवा मानी गई है, वहीं उसे सेवा से अलग स्वतन्त्र रूप से भी आजीविका अर्जित करने की अनुमति दी गई है। मनु के अनुसार यह अनुमति आपातकाल में अधिक लागू होती है, पर विष्णुस्मृति और शंखस्मृति ने इसे सामान्य रूप से स्वीकार किया

है। इन ग्रन्थों में शूद्र को चित्रकर्म, शिल्पकर्म और अन्य हस्तकलाओं के द्वारा जीविका चलाने का अधिकार दिया गया है। उशनस् ने इस दायरे को और बढ़ाते हुए कहा है कि शूद्र सभी प्रकार के व्यापारिक पण्यों को ग्रहण कर सकता है। लघ्वाश्वलायन और वृद्धहारीत भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि शूद्र को आवश्यकता पड़ने पर सेवा से अलग शिल्प और स्वतंत्र श्रम द्वारा आजीविका अर्जित करने की स्वतंत्रता थी। इससे स्पष्ट होता है कि उसकी आर्थिक भूमिका केवल सेवा-केंद्रित नहीं थी, बल्कि कला, शिल्प और व्यापार में भी उसे सहभागिता का अवसर प्राप्त था।

शूद्रों की शिक्षा :

धर्मशास्त्रों के अनुसार शूद्रों के लिये वैदिक शिक्षा सर्वथा निषिद्ध मानी गई थी। वैदिक अध्ययन का अधिकार केवल उन व्यक्तियों को प्राप्त था जिनका उपनयन संस्कार सम्पन्न हुआ हो, परन्तु शूद्र का उपनयन संस्कार न होने के कारण वह स्वभावत: वैदिक वाङ्मय के अध्ययन का अधिकारी नहीं माना गया। स्मृति-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर यह विचार दोहराया गया है कि प्रजापति ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को विभिन्न वैदिक छन्दों से उत्पन्न किया, पर शूद्र किसी भी वैदिक छन्द से उत्पन्न नहीं माना गया; इसलिए वह उपनयन एवं वेदाध्ययन के लिये योग्य नहीं है।

यह उपनयन-विहीनता उसे वैदिक शिक्षा से वंचित अवश्य करती है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे किसी भी प्रकार की लौकिक शिक्षा का अधिकार नहीं था। श्राद्ध-विधान, व्यापार, कला और शिल्प जैसे व्यावहारिक कार्यों में दक्षता के लिये उसे शिक्षा-प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती थी, जिसे वह प्राप्त कर सकता था। वह केवल वैदिक ज्ञान से ही वर्जित था।

गौतम धर्मसूत्र में शूद्र के वैदिक अध्ययन पर अत्यन्त कठोर दण्डों का उल्लेख मिलता है। वे कहते हैं कि यदि शूद्र जान-बूझकर वेदों को सुनने, उच्चारण करने या हृदयंगम करने का प्रयास करे, तो उसे कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए; यद्यपि हरदत्त ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि आकस्मिक रूप से वेद-श्रवण होने पर कोई दोष नहीं लगता। आपस्तम्ब भी शूद्र को वेदाध्ययन से वंचित ही मानते हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्रों ने न केवल वेद, बल्कि वेदांगों, वैदिक व्याकरण और यहाँ तक कि संस्कृत शब्दों के विशिष्ट उच्चारण पर भी शूद्र के लिये निषेध लगाया।

पाराशर जैसे कुछ स्मृतिकार इस विचार को और अधिक आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि शूद्र यदि वेदाक्षरों का विचार तक करता है तो वह उसी क्षण पतित हो जाता है। इस प्रकार समस्त प्राचीन धर्मशास्त्रीय परम्परा में शूद्रों को वैदिक ज्ञान से पूर्णत: दूर रखा गया, और शिक्षा की उसकी राह केवल लौकिक ज्ञान तथा शिल्प-विद्याओं तक सीमित रही।

अध्यापक और शूद्र :

धर्मशास्त्रीय परम्परा में अध्यापक के रूप में शूद्र की भूमिका अत्यन्त सीमित मानी गई है। पालकाप्यसंहिता में स्पष्ट कहा गया है कि शूद्र चाहे कितना ही गुणवान क्यों न हो, उसे अध्यापक बनाना उचित नहीं है। इस मत के पीछे यह धारणा रही कि अध्यापन का कार्य केवल उपनयन-संस्कार सम्पन्न वर्णों तक सीमित रहना चाहिए, क्योंकि वैदिक और शास्त्रीय ज्ञान उनके अधिकार क्षेत्र में आता है।

इसी के साथ यह भी वर्णित है कि शूद्र के अन्न का सेवन करना, उसके साथ अत्यधिक मेल-जोल

रखना, उसके साथ एक स्थान पर बैठना और उससे किसी प्रकार का ज्ञान ग्रहण करना — ये सभी आचरण तेजस्वी, साधक या उच्च वर्ण के व्यक्ति को पतित कर देते हैं। इस प्रकार शूद्र से शिक्षा ग्रहण करना न केवल निषिद्ध माना गया, बल्कि इसे अध्यापक-शिष्य परम्परा की मर्यादा का हनन समझा गया।

निष्कर्षत: धर्मशास्त्रीय व्यवस्था में शूद्र को समाज के निम्नतम स्थान पर रखा गया। सम्मान, आजीविका, शिक्षा और अध्यापन—चारों क्षेत्रों में उसके अधिकार अत्यन्त सीमित माने गये। शूद्र का सम्मान मुख्यत: उसकी आयु पर आधारित था, न कि गुण या विद्या पर। उसकी आजीविका का प्रमुख साधन द्विजातियों की सेवा को माना गया, और केवल कठिन परिस्थितियों में तथा अपवादस्वरूप ही अन्य कार्यों या शिल्पों को स्वीकार्य बताया गया। वैदिक अध्ययन से शूद्र को पूरी तरह वंचित रखा गया, और वेद, वेदांग, संस्कृत व्याकरण तक के अध्ययन का कठोर निषेध किया गया। अध्यापन के क्षेत्र में भी शूद्र को पूर्णत: अयोग्य माना गया, चाहे वह गुणवान ही क्यों न हो। इस प्रकार धर्मशास्त्रों में शूद्र के जीवन की संपूर्ण संरचना जन्मना अधीनता, सीमित अधिकार और नियंत्रित आजीविका पर आधारित दिखाई देती है।

ꕥꕥꕥ

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *याज्ञवल्क्य स्मृति, सं. जे.आर. धरपुरे, बम्बई, 1926*
2. *गौतम धर्मसूत्र, मस्करी भाष्य, मैसूर, 1917*
3. *हारीत स्मृति, कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।*
4. *मनुस्मृति, हिन्दी (अनु.) श्री हरिगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा सीरिज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय एवं चतुर्थ संस्करण, 1965, 1979*
5. *आपस्तम्ब धर्मसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1932*
6. *वीरमित्रोदय, संस्कार-प्रकाश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, प्रकाशन-वर्ष अज्ञात।*
7. *पराशर-माधव, आचार-काण्ड, चौखम्बा ओरिएण्टालिया, वाराणसी, प्रकाशन-वर्ष अज्ञात।*
8. *स्मृतिचन्द्रिका (संस्कार-काण्ड), प्राचीन ग्रंथ-आधारित; प्रकाशन—चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।*
9. *वासिष्ठ धर्मसूत्र, बम्बई, 1916*
10. *अपरार्क, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।*
11. *आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हरदत्त मिश्र-टीका, चौखम्बा, 1928*
12. *वीरमित्रोदय, संस्कार-प्रकाश, चौखम्बा, वाराणसी।*
13. *विश्वरूप (याज्ञ. 1.15) पर टीका, याज्ञवल्क्य-स्मृति-टीका, चौखम्बा, वाराणसी।*
14. *डॉ. निरूपण विद्यालंकार, भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1971*